Year-8; Sept. 2017
ISSN–2231-1130
UGC Sr. No. – 48398
VEETHIKA

मनुष्य के जीवन में शिक्षा का महत्त्व

डॉ0 प्रशान्त सिंह*

सारांश

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी।

शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमों और नियमों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। शिक्षा–प्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन कर सकने में सफल होता था। इससे उसके भीतर आत्म–संयम, आत्म–चिन्तन, आत्मविश्वास, आत्म–विश्लेषण, विवेक–भावना, न्याय–प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होता था।

शिक्षा और विद्या के माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराएँ जीवन्त हो उठती हैं।

महत्वपूर्ण शब्द – आध्यात्मिक ज्ञान, विद्यार्जन, सच्चरित्रता, आत्मसंयम, आत्मचिन्तन।

मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। सही बात तो यह है कि शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है। इसीलिए ज्ञानोद्भव का आधार–तत्व शास्त्र और विवेक माना गया है। ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करता है।

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।
सा विद्या या विमुक्तये। विद्यान्या शिल्पनैपुण्यम्।[1]

विष्णु पु0, 6.5.61, 1.19.41

शिक्षा के उद्देश्य–

शिक्षा से मनुष्य का जीवन विशुद्ध, प्रज्ञासम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नहीं होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन शिक्षा और ज्ञान से ही धर्मप्रवण, नैतिक मूल्यों से युक्त, उच्च आदर्शों से संवलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्मनिर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार ओर समाज के निर्माण में योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान, उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन ओर उसके सांस्कृतिक जीवन का उन्नयन शिक्षा के प्रधान उद्देश्य हैं। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहता है। अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[2]

मनुष्य के चरित्र अथवा आचरण का उत्थान–

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान् सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव में माननीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मंत्र का ज्ञाता पंडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पजूनीय था।

सावित्रोमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयो।।[3]

मनु0, 2.118

वस्तुतः सच्चरित्रता व्यक्ति का भूषण मानी गयी थी। आचार–सम्पन्न और चरित्रवान् व्यक्ति अभिनन्दनीय था तथा आचरणहीन और चरित्रहीन

*प्रवक्ता, इतिहास विभाग, वी0एस0पी0एस0 महाविद्यालय, कानपुर

व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यो से ही संचालित होते थे। शिक्षा अवधि में ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द्र, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्धन था, वही पण्डित था।[4]

शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसी और पाश्विक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता था तथा सदसत् का भेद कर सकने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारम्भ होता था। विद्यार्थी काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र का तदनुकूल संघटित करने का अवसर मिलता था, इसलिए चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का यह सर्वोत्तम काल था। अपने इस काल में शिक्षार्थी विभिन्न नियमों और निर्देशों का पालन सुगमतापूर्वक कर सकता था, व्यवहार, सदाचार और शील का अर्थ समझ सकता था।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्त्ति।
तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु।[5]

अथर्ववेद, 11.5.24

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसीलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता था और उसमें समस्त देवता अधिवास करते थे।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया।
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति।।[6]

वही, 11.5.4

समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।[7]

वही, 11.5.17

ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान् और दिव्य होता था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। यह माना गया था कि ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप में शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था।

चरित्र और आचरण के उत्थान में ब्रह्मचारी का व्रत अनिवार्य था, इसीलिए शिक्षार्थी को 'ब्रह्मचर्य–व्रती' कहा गया था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक इंद्रिय–निग्रह और व्रत–पालन का विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संयुक्त हो गया था।[8]

वस्तुतः चरित्र के उत्थान में ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय अर्थात् वेद, अथवा दूसरे शब्दों में, ज्ञान को प्राप्त करना था

सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम् कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत्।।
तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशबदेन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते।[9]

अमृतमन्थन, 1.1.45–46

जो शाश्वत और दिव्य था। तप तो ब्रह्मचर्य–जीवन का आवश्यक महिमामय अंग ही था।

स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महमानमनुभवति।[10]

प्र0उ0, 5.3

शौच, पवित्रता, आचार, स्नान क्रिया, अग्नि क्रिया और संध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार–तत्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च।।[11]

मनु0 2.69

मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान–

शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति के मनुष्य का व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमों और नियमों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। शिक्षा–प्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन कर सकने में सफल होता था। इससे उसके भीतर आत्म–संयम, आत्म–चिन्तन, आत्मविश्वास, आत्म–विश्लेषण, विवेक–भावना, न्याय–प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होता था।

आत्मविश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से होता है। प्राचीन काल में यह माना गया कि शिक्षार्थी में आत्मविश्वास का होना उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का कारण था। अपने कर्मों और उत्तरदायित्वों को आत्मविश्वास पर ही सही ढंग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसलिए ब्रह्मचारी में यह आत्मविश्वास जागृत कराया जाता था कि वह भावी जीवन की भयंकर कठिनाइयों में भी स्थिर–मति रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरु के सान्निध्य में रहकर विभिन्न नियमों का पालन करता और अपने अद्‌भुत साहस का परिचय देता था। भविष्य के संकटम जीवन को अपने अनुकूल बनाने में उसका आत्मविश्वास ही एकमात्र सहायक होता था। शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था उसी समय उसका आत्मविश्वास जगाया जाता था तथा अग्नि से यह प्रार्थना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति में वृद्धि करे जिससे अग्नि–शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति की कीर्ति सभी दिशाओं में प्रसारित हो।

अयं ते इध्म आत्मा जात वेदः तेन वर्द्धश्व चेद्धि वर्द्धय चारमान्।[12]

भा0गृ0सू0, 1.5

अनेक देवताओं के पूजन के साथ उसमें यह भावना दृढ़ की जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेंगे। ब्रह्मचारी की चोट, रोग और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था।

देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स मा मृत।[13]

आश्व0गृ0सू0, 1.20.6

ब्रह्मचारी के लिए आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आत्मसंयम का अभिप्राय आत्मनियंत्रण से था। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की दृष्टि से इंद्रियों और मन की उच्छृङ्‌ख्ल प्रवृत्तियों को नियंत्रित और व्यवस्थित रखना आत्मसंयम था। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। गीता में कहा गया है कि संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दुःखों को दूर करता है जो यथायोग्य आहार–विहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्य रत रहने वाला तथा यथायोग्य सोने वाला और जागने वाला होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा।।[14]

गीता, 6.17

इस तरह व्रती, नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्मसंयम का महत्वपूर्ण आधार था। इससे विवेक–भावना और न्याय–प्रवृत्ति का उदय होता था, जिससे धार्मिकता और आध्यात्मिकता की अभिवृद्धि होती थी। अतः व्यक्तित्व के उत्थान में इन सभी तत्वों का सक्रिय योग रहा है।

सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन–

शिक्षित और ज्ञानवान होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक निष्पन्न करता था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था बल्कि वह अन्यान्य जिज्ञासु विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था। वह अपने कर्म करते हुए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दृढ़ रखता था। पुत्र, पति और पिता के रूप में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करता था। विद्यार्थी के समावर्तन समारोह के उपदेश में उसके लिए इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया था, "सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद न करना। आचार्य की दक्षिणा दे लेने पर सन्तति–उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। लाभ कार्य में प्रमाद न करना। महान् बनने के सुअवसर से न चुकना। पठन–पाठन के कर्त्तव्य में प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ

और श्राद्ध आदि) से प्रमाद न करना। माता को देवी समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना। अन्यान्य दोष–रहित कार्यों को करना।"

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।[15]

तै0उ0, 1.11

इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरदायित्व थे, जिन्हें वह शिक्षा–प्राप्ति के बाद सोत्साह मनोनिवेश पूर्वक संपादित करता था।

सभी वर्णों और जातियों के अपने पृथक्–पृथक कर्म थे, जिनको निष्पन्न करना उनका परम धर्म था। सबके अपने व्यवसाय और पेशे थे, जिनके अनुसार वे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते थे। शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, अपने पारिवारिक दायित्वों को निष्पन्न करता था तथा अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाता था। कार्य–विभाजन के अनुसार सभी वर्णों और जातियों के भिन्न–भिन्न कर्म, जिनका पालन करना सभी लोगों का अपना कर्त्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विभिन्न कर्म थे, जिन्हें वे मनोनिवेशपूर्वक सम्पादित करते थे, यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यों ने आपत्ति काल में अपने वर्णगत कर्म का त्याग करके दूसरे वर्णों के कर्म अपना लिए– क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के कर्म अपनाए और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के, वैश्यों ने शूद्रों के और शूद्रों ने वैश्यों के। वर्णों के आपद्धर्म तो इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं जब व्यक्ति दूसरे के कर्म को अपनाकर अपना और अपने परिवार का पोषण करता था। ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाण भी अनेक हैं, जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। पेशेवर जातियों ने श्रेणी के माध्यम से अपने कार्य पूरे किए थे। वंशानुगत पेशे का प्रचलन और कार्य–क्षमता का निष्पादन सामाजिक उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत आए, जिन्हें कालान्तर में सफलतापूर्वक पूरा किया गया।

सांस्कृतिक जीवन का उत्थान–

शिक्षा और विद्या के माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराएँ जीवन्त हो उठती हैं। अतः जीवन अपनी सन्तति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों का ज्ञान और उसका प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कण्ठस्थ करना और उन्हें यत्नपूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तत्कालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्त्तव्य था, साथ ही आर्य संस्कृति का यह प्रधान उद्देश्य भी। वेद–वेदांगों को कण्ठस्थ रख्ना और उन्हें सर्वदा स्मरण रखना ब्राह्मण का प्रधान धर्म था।[16]

सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गई।प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यक्रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्त्तव्य था। तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि ब्रह्मचर्य द्वारा व्यक्ति ऋषि–ऋण अथवा संस्कृति के प्रति अपने कर्त्तव्य से मुक्त होता है, यह उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार व्यक्ति यज्ञ द्वारा देव–ऋण से मुक्त होता है तथा संतान (प्रजनन) द्वारा पितृ–ऋण से। देव–ऋण से तब मुक्ति मिलती थी, जब यज्ञ सम्पन्न किए जाते थे। ऋषि–ऋण से छुटकारा ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन करने से मिलता था। पितृ–ऋण सन्तान उत्पन्न करने और समुचित शिक्षा प्रदान करने वाले नए साहित्य, पुराणों का निर्माण हुआ, जिसमें अतीत के जीवन के प्रति आकर्षण था।

सन्दर्भ –

1. विष्णु पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर–2009.
2. विष्णु पुराण, विल्सन भाग–5, ऑक्सफोर्ड लंदन, 1864–70.
3. मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई–1946.
4. महाभारत, अनुशासनपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर–1990.

5. अथर्ववेद, सम्पादक–आर0 रौथ और डब्ल्यू0 डी, हिल्टेन बर्लिन, 1856.
6. अथर्ववेद, सम्पादक–पंडित पाण्डुरंग शंकर, सायणभाष्य अनुवाद सहित, खण्ड–4, बम्बई–1945–48.
7. अथर्ववेद, सम्पादक–श्रीपाद शर्मा, औध नगर–1938.
8. अथर्ववेद का धर्म और दर्शन, सम्पादक–एन0जे0 शेंदे, पूना–1952.
9. अमृतमन्थन, हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी–2005.
10. प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर–1978.
11. मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई–1946.
12. भागवत गृह्यसूत्र, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना–1964.
13. आश्वलायन गृह्यसूत्र, नारायण टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बइ–1975.
14. गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर–1978.
15. तैत्तिरीय उपनिषद्, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई–1960.
16. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, जयशंकर मिश्र, पटना–1960.